अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

हैं यहां ये भूत समस्त । जन्मके पहले अमूर्त ।
फिर किया व्यक्तित्व प्राप्त । जन्म लेके ॥ ६४ ॥

मिटाकर अपना आकार । नाशसे बनते निराकार ।
जाते हैं मूल-रूपमें और । यथा स्थिति ॥ ६५ ॥

मध्यमें जो प्रतिभासे । निद्रितका स्वप्न जैसे ।
वैसे आकार मायासे । है सत्स्वरूपका ॥ ६६ ॥

न तो वायुने छेड़ा नीर । बना जैसे तरंगाकार ।
परापेक्षासे अलंकार । दीखता सोनेमें ॥ ६७ ॥

वैसे सकल हैं यह मूर्त । जान ले तू मायाका है रीत ।
जैसे आकाशमें है बिंबित । बादल सारे ॥ ६८ ॥

नहीं यहां जो मूलता । उसके लिये है रोता ।
देख तू नित तत्वता । चैतन्यएक ॥ ६९ ॥

उसकेलिये होकर पार्थ । विषय तज करके संत ।
रहते हैं सदैव विरक्त । एकांतमें ॥ १७० ॥

दृष्टि रखकर जिस पर । ब्रह्मचर्यादि व्रतको कर ।
तपाचरते मुनीश्वर । अनन्य हो ॥ ७१ ॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्
आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

अव्यक्त मूल भूतोंका मध्य है व्यक्त भासता ।
पुनः है अंत अव्यक्त इसमें शोक है कहां ॥ २८ ॥
आश्चर्य कोयी अवलोकता है
आश्चर्य कोयी कहता यही है ।
आश्चर्य है वर्णित अन्य बातें
सुने भी ना जान पाता इसे हैं ॥ २९ ॥

अन्तरमें एक निश्चल । देख करके जो केवल ।
भूल गये हैं जो सकल । संसार मात्र ॥ ७२ ॥

गुणगान करता । उपरत हो चित्त ।
सदैव तल्लीनता । रहते हैं वे ॥ ७३ ॥

शांत होते सुनकर । देहभान भूलकर ।
पाते तद्रूप होकर । अनुभाव ॥ ७४ ॥

जैसे नदी-नद बहकर । सागरमें नहीं मिलकर ।
पारांगमुख आते लौटकर । ऐसा नहीं होता ॥ ७५ ॥

वैसे है योगियोंकी मति । पाकरके आत्मानुभूति ।
पुनः देह-तादात्म्य वृत्ति । पाती । नहीं ॥ ७६ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वंशोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

देहमें जो सर्वत्र बसता । उसका घात कभी न होता ।
देख वह विश्वात्मक सत्ता । चैतन्य एक ॥ ७७ ॥

स्वभाव ही है इसका । होता जाता है सबका ।
इसमें क्या है शोकका । यहां कारण ॥ ७८ ॥

न तो भी हे अर्जुन । न जाने क्यों बुद्धिमान ।
शोक करना है हीन । सब प्रकारसे ॥ ७९ ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

क्षात्र धर्म महता—

अबतक तू क्या सोचता । यह कैसी चिन्ता करता ।
स्वधर्म को ही है भूलता । जो है तारक ॥ १८० ॥

अमर नित्य जो आत्मा सबके देहमें बसा ।
इससे भूत-मात्रोंमें नकर शोक तू कभी ॥ ३० ॥
स्वधर्म देखके यों भी न योग्य डिगना तुझे ।
क्षत्रियोंको नहीं कोयी श्रेष्ट है धर्म--युद्धसे ॥ ३१ ॥

कौरवोंका हुआ अनुचित। अथवा तेरा ही हुआ घात।
या मानो हो गया है युगांत। तो भी यहां॥ ८१॥

स्वधर्म यह रहता एक। सदा जो आचरणीय नेक।
तुझे वह है कृपा पूर्वक। तारेगा ही॥ ८२॥

अर्जुन तेरा जो चित्त। हुआ यदि द्रवीभूत।
किंतु यह अनुचित। संग्राममें॥ ८३॥

हुवा यदि गायका दूध। पथ्यमें हुआ इससे बाध।
करेगा विषसा प्रमाद। नव ज्वरमें॥ ८४॥

वैसे असमयमें अनुचित। इससे होगा हितका घात।
इसलिये हो सावध चित। कार्यकर ऊठ॥ ८५॥

व्याकुल है तू अकारण। कर स्वधर्मका आचरण।
उससे होगा सब रक्षण। तीनों कालमें॥ ८६॥

जैसे सरल पथपे चलना। उपाय है अपायसे बचना।
या है दीप प्रकाशमें चलना। न लगे ठोकर॥ ८७॥

वैसे सुन तू अर्जुन। करस्वधर्माचरण।
सकल कामना पूर्ण। होती हैं॥ ८८॥

देखो इससे अन्य नहीं। क्षत्रियकेलिये जो सही।
रणके बिन कछु कहीं। उचित धर्म॥ ८९॥

हो करके निष्कपट। लडना अति विकट।
देखना क्या रही बाट। प्रत्यक्षमें यहां॥ १९०॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥

स्वधर्माचरणकी अपूर्व स्वर्णसंधि—

यह है युद्ध आजका। फल है तेरे दैवका।
धरोहर है धर्मका। हुआ प्रकट॥ ९१॥

हुवा प्राप्त अनायास स्वर्गका द्वार है खुला।
भाग्य शाली क्षत्रियोंको मिलता धर्म-युद्ध है॥ ३२॥

इसे युद्ध कहे कैसा। यह है स्वर्गरूप सा।
या तव प्रताप ऐसा। उत्तर आया॥ ९२॥

या तेरे गुणों पर हो लुब्ध। उत्कट भावसे करबद्ध।
स्वयंवरार्थ होकर सिद्ध। आयी है कीर्ति॥ ९३॥

क्षत्रियों को अतीव पुण्यसे। लडने मिलते युद्ध ऐसे।
मिलती है चिंतामणि जैसे। राह चलतेको॥ ९४॥

अथवा देते हुये जंभायी। अमृतबूंद टपक आयी।
ऐसी है यह लडाई आयी। स्वाभाविक हो॥ ९५॥

अथ चेत्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ ३३॥

करके इसकी अवहेलना। व्यर्थका शोक करते बैठना।
अपना घात आपही करना। यह है ऐसा॥ ९६॥

पूर्वजोंका जो यश संचित। अपनेसे खोना है निश्चित।
शस्त्र त्यजना हो शोकग्रस्त। रणमें यहां॥ ९७॥

इससे नष्ट होगी तव कीर्ति। विश्व गायेगा तेरी अपकीर्ति।
मिलेगी महापापकी थाथी। निश्चित तुझे॥ ९८॥

वनिता जो भर्तार रहित। होती सर्वत्र अनादरित।
वैसे है जीवनका सतत। बिन स्वधर्मके॥ ९९॥

अथवा रण-भूमिका प्रेत। होता गिद्धसे क्षत विक्षत।
नर वैसा स्वधर्म रहित। होता महादोषसे॥ २००॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ ३४॥

ऐसा जो धर्म संग्राम टालेगा यदि तू यहां।
पायेगा पाप दुष्कीर्ति तजके धर्म युद्ध को॥ ३३॥
सदैव लोग गायेंगे तेरी दुष्कीर्ति विश्वमें।
अकीर्ति मृत्युसे हीन मानी पुरुषके लिये॥ ३४॥

यदि तू स्वधर्म छोडेगा । महापापका भागी होगा ।
कल्पांतमें भी न मिटेगा । कलंक अकीर्तिका ॥ १ ॥

भलोंको तब तक ही जीना । जब तक कुयश न पाना ।
इससे कैसे अब बचना कह तू अर्जुन ॥ २ ॥

निर्मत्सर तू सहृदयतासे । जायेगा लौट रण-भूमिसे ।
किंतु सभी न मानेंगे इसे । युद्ध भूमिमें ॥ ३ ॥

घेरेंगे यहां चहूं ओर । चलेंगे तीर पर तीर ।
कैसे होगा यहांसे पार । कृपालुतासे ॥ ४ ॥

इस प्राण संकटसे मुक्त । हुआ तो अपकीर्तिमें लिप्त ।
ऐसा जीवन भी है निश्चित । मृत्युसे हीन ॥ ५ ॥

भयाद्रणादुपरतं मस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

न सोचता तू और एक बात । आया रणमें उत्साह सहित ।
लौटेगा यदि हो रण विरत । युद्ध भूमिसे ॥ ६ ॥

सोच देख तब अर्जुन । सोचेंगे क्या शत्रु दुर्जन ।
मानेंगे क्या सत्य वचन । यह कहो मुझे ॥ ७ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्य ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६ ॥

कहेंगे वे गयारे गया । पार्थ हमसे डर गया ।
यह वाक्य जो गूंज गया । तब क्या होगा ॥ ८ ॥

अनेक कष्ट करके जन । करते हैं स्वयश रक्षण ।
समय पे कर प्राणार्पण । आनंदसे ॥ ९ ॥

तुझे वह अनायाससे मिला अनजान भावसे ।
वह भी अद्वितीय जैसे । आकाश है ॥ २१० ॥

डरके रणसे भागा मानेंगे ये महारथी ।
मान्य तू इनमें आज पायेगा क्षुद्रता फिर ॥ ३५ ॥
बोलेंगे शत्रु जो तेरे अवाच्य कुत्सित सब ।
कोसेंगे शौर्य जो तेरा यह है अति दुःखद ॥ ३६ ॥

कीर्ति है तेरी निःसीम । वैसी ही जो निरुपम ।
तेरे गुण भी उत्तम । तीनों लोकमें ॥ ११ ॥

नृपति जो हैं त्रिभुनके । गाते हैं गीत भाट बनके ।
डरते गीत सुनकरके । कृतांत भी वे ॥ १२ ॥

ऐसी तेरी महिमा महान । गंगाकी गरिमाके समान ।
देख करके सुभट मन । चकित होता ॥ १३ ॥

पौरुष तेरा ऐसा अद्‌भुत । सुनकरके ये हैं समस्त ।
जीवनसे हुये वे विरक्त । अपने ही ॥ १४ ॥

सिंह गर्जतासे जैसे । कांपते हैं हाथी वैसे ।
कौरव तेरे भयसे । होते त्रस्त ॥ १४ ॥

जैसे हैं पर्वत वज्रसे । अथवा सर्प गरुड़से ।
वैसे अर्जुन हैं तुझसे । सहमतें सब ॥ १६ ॥

जायेगी वह महानता । चिपकेगी अति दीनता ।
यदि तू यहांसे लौटता । युद्धके बिना ॥ १७ ॥

किंतु तुझे ये भागने नहीं देंगे । पकड अति अपमान करेंगे ।
अमर्याद कटु वचन कहेंगे । तेरे ही सम्मुख ॥ १८ ॥

तब होगा विदीर्ण हृदय । अब न लड़ना क्यों कौंतेय ।
राज्य करेगा पाकर जय । पृथ्वीतलका ॥ १९ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

अथवा यहीं रण भूमिमें । पावोगे मृत्यु भी लड़नेमें ।
अनायास ही स्वर्ग लोकमें । पहुचेगा तू ॥ २२० ॥

इसी लिये तू यहां पर । छोड़कर सारे विचार ।
करमें ले कमान तीर । लडो शीघ्र ॥ २१ ॥

मरनेसे स्वर्ग भोग जीतनेसे धरातल ।
तथैव पार्थ तू ऊठ युद्धार्थ कर निश्चय ॥ ३७ ॥

स्वधर्मका है आचरण । करता दोष निवारण ।
चित्तभ्रम किस कारण । जो है पाप ॥ २२ ॥

डूबेगा क्या कोई नांवसे । अड़े क्या कोई पथसे ।
सही न चलने आनेसे । होगा ये सब ॥ २३ ॥

अमृत-पान भी मारेगा । विष-सह यदि पीयेगा ।
स्वधर्म भी दोष लायेगा । सहेतुक जो ॥ २४ ॥

इसीलिये तुझको पार्थ । निरहेतुक हो सर्वथा ।
लडनेमें क्षात्र-धर्मार्थ । नहीं पाप ॥ २५ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सम-बुध्दिसे लड —

संतोष न मानना सुखमें । विषाद न मानना दुखमें ।
तथा लाभालाभ भी मनमें । नहीं धरना ॥ २६ ॥

यहां जो विषय भी होगा । या सर्वथा तन जायेगा ।
न सोचना आगे क्या होगा । पहलेसे ही ॥ २७ ॥

उचित जो अपना । स्वधर्म सो करना ।
प्राप्तव्यको भोगना । शांत भावसे ॥ २८ ॥

ऐसे होनेसे तू सम चित्त । होगा सहज ही पाप-मुक्त ।
इसलिये हो तू युद्ध रत । निश्चिंत भावसे ॥ २९ ॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

बुध्दियोगका वज्र कवच —

सांख्य स्थिति यह संक्षिप्त । किया तुझको निरूपित ।
तभी होकरके निर्भ्रांत । लडना अब ॥ २३० ॥

हानि लाभ सुख दुःख सम हो हार जीतमें ।
फिर युद्धार्थ हो सिद्ध न होगा पाप लिप्त तू ॥ ३८ ॥
सांख्य बुध्दि यही जान सुन तू योग बुध्दि भी ।
तोडेगा उससे सारे जगमें कर्म बंधन ॥ ३९ ॥

जो है बुध्दि युक्त । सुनो वह पार्थ ।
कर्म-बंध मुक्त । रहता सदा ॥ ३१ ॥

वज्र कवच पहननेसे । शस्त्रोंकी वर्षामें भी है जैसे ।
शरीर रहता है उससे । अचुंबित ॥ ३२ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

ईश्वरार्पित बुध्दिसे अनासक्त कर्म—

मिटता नहीं जिससे लौकिक । सहज मिलता पारलौकिक ।
चल आया पूर्वानुक्रम देख । शुद्ध रूपसे ॥ ३३ ॥

कर्माधारसे बरतना । कर्म फलको न देखना ।
मंत्रज्ञको मुक्त रहना । भूत बाधासे ॥ ३४ ॥

उस पर जो सुबुध्दि । अपनेको निरवधि ।
मिलने पर उपाधि । नहीं लगती ॥ ३५ ॥

न जा वहां पुण्य-पाप । जो है अति सूक्ष्म निष्कंप ।
औ' गुणत्रयादिका लेप । चढता नहीं ॥ ३६ ॥

अर्जुन ऐसा यदि पुण्यवश । हुआ हृदयमें बुध्दि प्रकाश ।
होगा उससे ही अशेष नाश । संसारका भय ॥ ३७ ॥

व्यवसायात्मिका बुध्दिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

जैसे छोटीसी दीप-ज्योति । तेजसे प्रकाशती अति ।
वैसे न मानता सुमति । अल्पसी कभी ॥ ३८ ॥

सुन तू पार्थ अनेक प्रकार । चाहते हैं बुध्दि विचार शूर ।
किंतु है दुर्लभ सचराचर । सद्वासना ॥ ३९ ॥

चूकता जो न आरंभ न बने विपरीत भी ।
अल्प भी यह धर्मांश तारता भयसे महा ॥ ४० ॥
बुध्दि एकाग्र होती है इसमें दृढ होकर ।
अनंत बहु शाखाकी बुद्धि निश्चय हीनकी ॥ ४१ ॥

जैसे वस्तु अनेक मिलते । वैसे पारस नहीं मिलते ।
अमृत-बिंदु हैं मिलते । दैव योगसे ॥ २४० ॥

वैसी दुर्लभ है सद्‌बुध्दि । जिसे परमात्म ही अवधि ।
जैसे भागीरथीको उदधि । निरंतर ॥ ४१ ॥

नहीं जिसे ईश्वरके बिन । कोई अन्य है अवलंबन ।
वही एक सद्‌बुध्दि है जान । इस जगतमें ॥ ४२ ॥

अन्य जो है सब दुर्मति । पाती है अनेक विकृति ।
वहां निरंतर सुमति । रमते हैं ॥ ४३ ॥

वेदवादविदोंके वाग्जालमें नहीं आओ–

इसीलिये सुन उन्हे पार्थ । स्वर्ग संसार नर्ककी वार्ता ।
न कभी आत्म-सुख सर्वथा । मिलता देखने भी ॥ ४४ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

वेदके आधारसे हैं बोलते । केवल कर्म-प्रतिष्ठा करते ।
किंतु आसक्ति हैं नित धरते । कर्म फलोंमें ॥ ४५ ॥

संसारमें जनम लेकर । यज्ञ यागादि कर्मको कर ।
भोगो स्वर्ग सुख मनोहर । कहते ऐसे ॥ ४६ ॥

यहां बिन इसके नहीं । अन्य सुख सर्वथा कहीं ।
अजी ! ऐसे बोलते यही । दुर्बुद्ध लोग ॥ ४७ ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

देखो कामनासे अभिभूत । होकरके कर्म-आचरित ।
केवल वे भोगमें दे चित्त । अपना सारा ॥ ४८ ॥

अनाडी व्यर्थकी बात कहते हैं फुलाकर ।
वेदके करते वाद कहते अन्य ना कछु ॥ ४२ ॥
जन्म लेके करो कर्म पावोगे भोग वैभव ।
लो कर्म फल स्वादिष्ट कहते स्वर्ग कामुक । ४३ ॥

क्रिया विशेषको बहुत । नहीं लोपते विधिवत ।
निपुण हो धर्ममें रत । करते हैं नित्य ॥ ४९ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

किंतु करते एक बुरी बात । स्वर्ग कामनामें हो लिप्त चित्त ।
भूलते हैं यज्ञ पुरुषको नित । भोक्ता है जो ॥ २५० ॥

बनाकर जैसे कर्पूरका ढेर । उसमें आग लगाकरके फिर ।
अथवा मिष्टान्न भला पकाकर । मिला दिया विष ॥ ५१ ॥

पाकर अमृतकुंभ दैवसे । ठुकराते हैं उसको पैरसे ।
नासते हैं धर्म-कृत्यको वैसे । करके फलाकांक्षा ॥ ५२ ॥

पुण्य करते हैं सायास । धरके संसारकी आस ।
विवेक बिनु करें नास । करें क्या ॥ ५३ ॥

जैसे घरका सुग्रास भोजन । बेचते लेकरके कुछ धन ।
वैसे खाते हैं धर्म मति-हीन । भोगार्थि जो ॥ ५४ ॥

इसीलिये सुन तू पार्थ । दुर्बुध्दिमें होकर लिप्त ।
ये वेदवाद रत सतत । आचरते हैं ॥ ५५ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

तीन गुणोंसे है आवृत । जानो ये वेद निरभ्रांत ।
उपनिषदादि समस्त । हैं सात्विक ॥ ५६ ॥

है यहां रज रज-तमात्मक । जहां है निरूपण कर्मादिक ।
जो हैं केवल ही स्वर्ग सूचक । धनुर्धर ॥ ५७ ॥

लुभायी जिससे बुध्दि भोग वैभवमें फंसी ।
न होती बुध्दि अस्थायी समाधिमें कभी स्थिर ॥ ४४ ॥

तीन गुण वदे वेद उनसे हो अलिप्त तू ।
तथा निश्चिंत निर्द्वंद्व सत्वस्थ योग क्षेममें ॥ ४५ ॥

इसीलिये तू जान अर्जुन । ये हैं सुख दुखके कारण ।
न जाने देना अंतःकरण । इसमें कभी ॥ ५८ ॥
गुणत्रयोंका कर अनादर । मैं मेरा ऐसा कभी न कर ।
केवल आत्म-सुखका अंतर । कर आश्रय ॥ ५९ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

तू निष्काम कर्म कर–

वेद यदि अनेक बोलते । विविध भेदोंको है सुझाते ।
अपना हित आप देखते । उसमेंसे ही ॥ २६० ॥
जैसे सूर्यका उदय होते । सारे पथ दिखायी पड़ते ।
किंतु सभी पथ क्या चलते । कहो मुझे ॥ ६१ ॥
या जलमय सकल । हुआ सभी महीतल ।
लेते हम जो केवल । आवश्यक ॥ ६२ ॥
वैसे ही ज्ञानी जन । कर वेदार्थ चिंतन ।
शाश्वत जो तत्व-ज्ञान । स्वीकारते हैं ॥ ६३ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

इसीलिये सुन तू अर्जुन । करके ऐसे अवलोकन ।
तुझे यह उचित है जान । जो स्वकर्म ॥ ६४ ॥
विचार किया हमने पूर्ण । यह हमारा निश्चय जान ।
अनुचित त्यजना अर्जुन । विहित कर्म ॥ ६५ ॥

सभी ओर भरा पानी कुएमें क्या धरा रहा ।
ब्रह्मज्ञ-तत्वज्ञानीको वेदोंमें सार जो रहा ॥ ४६ ॥

कर्मका अधिकारी तू न कर फल-कामना ।
न कर्म-फलमें हेतु न हो राग अकर्ममें ॥ ४७ ॥

किंतु कर्म फलकी आशा न करना । तथा कुकर्मका संग भी न धरना।
सत्कर्मका आचरण सदा करना । बिन हेतुके ॥ ६६ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योःसमो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

ईश्वरार्पित कर्म सदैव पूर्ण ही–

तू योगयुक्त होकर । फलाशाको छोड़कर ।
अर्जुन ! मन देकर । कर कर्म ॥ ६७ ॥

किंतु हुआ कर्म सफल । दैव था यदि अनुकूल ।
न होना संतुष्ट बहुल । मनमें भी ॥ ६८ ॥

या हुआ कोई कारण । कार्य रहा जो अपूर्ण ।
जिससे तू अंतःकरण । न कर क्षुब्ध ॥ ६९ ॥

काम हुआ हाथका पूर्ण । यदि रहा वह अपूर्ण ।
इससे विचार सगुण । ऐसे मानना ॥ २७० ॥

कर्मका जो है मूल कारण । उसको ही किया समर्पण ।
वहीं हुआ वह परिपूर्ण । सहज भावसे ॥ ७१ ॥

सफल असफलमें सतत । रहता है जिसका सम चित्त ।
योग स्थिति है वह प्रशंसित । ज्ञानियोंसे ॥ ७२ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुध्दियोगाद्धनंजय ।
बुध्दौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

बुध्दियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

फल लाभे न लाभे तू असंग सम-भावसे।
योग-युक्त कर कर्म योग-सार समत्व है ॥ ४८ ॥

समत्व-बुद्धि है श्रेष्ठ उससे कर्म हीन है।
बुद्धिका आसरा ले तू चाहते फल दीन है ॥४९॥

यहां समत्व बुद्धिसे टलता पाप पुण्य है।
समत्व-युक्त हो सारा योग है कर्म-कौशल ॥ ५० ॥

ईश्वरार्पित साम्य-बुध्दि योगका सार है—

अर्जुन ! समत्व जो चित्तका । सार जान वही तू योगका ।
जिससे मन तथा बुद्धिका । होता ऐक्य ॥ ७३ ॥

बुद्धियोगका विवेचन । करनेसे लगता हीन ।
कर्म मार्ग है जो अर्जुन । वह सकाम ॥ ७४ ॥

किंतु कर्म करना है सतत । उससे योग मिलता निश्चित ।
शेष कर्ममें जो सहज चित्त । योग स्थिति है ॥ ७५ ॥

बुद्धियोग है सधर । उसमें ही हो तू स्थिर ।
मनसे ही त्याग कर । फल हेतुका ॥ ७६ ॥

लेकर आसरा बुद्धियोगका । पार हो जाते हैं भव सागरका ।
तोड़कर बंधन उभयका । पाप-पुण्य ॥ ७७ ॥

कर्मजं बुध्दियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

वे यदि कर्म करते रहते । मनसे कर्म फल नहीं छूते ।
तभी जन्म-मृत्युसे मुक्त होते । सुनो पार्थ ॥ ७८ ॥

होते हैं जो योग च्युत । पद पाते हैं अच्युत ।
हैं जो आनंद भरित । धनुर्धर ॥ ७९ ॥

तू भी ऐसा ही होगा । यदि मोह छोडेगा ।
मनमें जो धरेगा । विराग को ॥ २८० ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

तब निष्कलंक गगन । उदित होगा तत्वज्ञान ।
उससे निरिच्छ होगा मन । सहज रूपसे ॥ ८१ ॥

समत्व-बुद्धिसे ज्ञानी तजके कर्मके फल ।
छुडाके जन्मकी गांठ पाते हैं पद अच्युत ॥ ५१ ॥
बुद्धि जो तर जायेगी मोहका जब कीचड़ ।
हुवा होगा शब्द ज्ञान पचायेगा तभी सब ॥ ५२ ॥

और है कुछ जानना। बीतेको अब स्मरना।
ऐसा सब तू अर्जुन। भूलेगा तब ॥ ८२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुध्दिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

बुद्धि जो इंद्रियोंके संगमें। फैलती है दशदिशाओंमें।
होगी वही फिर आत्मरूपमें। स्थिर नित्य ॥ ८३ ॥

समाधि सुखमें केवल। बुद्धि होगी अति निश्चल।
वहां पायेगा तू सकल। योगस्थिति ॥ ८४ ॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

स्थितप्रज्ञताकी जिज्ञासा--

कहता है पार्थ हे कृष्ण। इसी बातको जानुं पूर्ण।
कहो अब हो सकरुण। कृपानिधि ॥ ८५ ॥

कहा अच्युतने फिर। पूछ ले तू धनुर्धर।
मनके कोई विचार। मुक्त भावसे ॥ ८६ ॥

बोला अर्जुन कृष्णसे। कहो बातें ये मुझसे।
जानना उसको कैसे। स्थितप्रज्ञ है ॥ ८७ ॥

जो है स्थिरमति कहलाता। समाधि सुख नित भोगता।
कैसा कहो वह जाना जाता। शार्ङ्गधर ॥ ८८ ॥

किस स्थितिमें वह रहता। कैसे वह बर्ताव करता।
किस रूपमें वह रहता। लक्ष्मीपति ॥ ८९ ॥

सुनके उलझी बुद्धि तेरी पाकर निश्चिय।
समाधिमें स्थिर होगी पायेगा तब योग तू ॥ ५३ ॥

अर्जुनने कहा

समाधिमें स्थिराया जो रहता किस भांतिसे।
बोले रहे फिरे कैसे स्थित-प्रज्ञ कहो मुझे ॥५४॥

तब परब्रह्मका अवतरण। है जो षड्गुणाधिकरण।
सुन इसे वहां नारायण। बोले ऐसा ॥ २९० ॥

भगवान उवाच

प्रजाहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

स्थितप्रज्ञके लक्षण—

सुन तू अब अर्जुन। मनकी प्रौढ़ कामना।
होती अति उलझन। आत्म सुखमें ॥ ९१ ॥
सदैव जो हैं नित्य तृप्त। अन्तःकरणमें भरित।
किंतु विषयमें पतित। जिसके संगसे ॥ ९२ ॥
काम वह जब मूलतः मिटता। मन उसका आत्मतोषी हो जाता।
तभी वह स्थितप्रज्ञ कहलाता। धनंजय ॥ ९३ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

होते हैं जब दुख प्राप्त। तब न होता उद्विग्नचित्त।
सुखमें भी वह हर्षित। होता नहीं ॥ ९४ ॥
होता अर्जुन उसका चित्त। सदा काम क्रोधसे रहित।
तथा होता है भयसे मुक्त। परिपूर्ण वह ॥ ९५ ॥
ऐसा वह निरवधि। उसे जान स्थिर बुद्धि।
सब त्यागके उपाधि। द्वंद्वातीत ॥ ९६ ॥

श्री भगवानने कहा

मनकी कामना सारी छोडके अपनी वह।
आत्मामें रहता तुष्ट कहाता स्थित-प्रज्ञ सो ॥ ५५ ॥
उद्विग्न दुखःमें ना हो सुखकी लालसा नहीं।
गया राग भय क्रोध है स्थित-प्रज्ञ संयमी ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेह स्तत् त्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

सर्वत्र सदैव एकसा । संपूर्ण चंद्र देता जैसा ।
सबको समान प्रकाश । न देख अधमोत्तम ॥ ९७ ॥

ऐसी अनवच्छिन्न समता । भूतमात्रमें हो सदयता ।
तथा अपरिवर्तित चित्त । सदा सर्वत्र ॥ ९८ ॥

भला पाकर नहीं रीझता । वैसे बुराईमें न खीजता ।
दोनोमें एक-सा है रहता । अप्रभावित ॥ ९९ ॥

ऐसा जो हर्ष शोक रहित । सदा आत्म-बोधसे भरित ।
जान तू है वह प्रज्ञा युक्त । धनुर्धर ॥ ३०० ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽगानीव सर्वशः ।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

अथवा कूर्मके समान । मोदमें फैलाता है तन ।
या इच्छावश आकुंचन । करता है जो ॥ १ ॥

इंद्रिया जिसके आधीन । उनका करती कथन ।
वही है स्थितप्रज्ञ जान । तू धनंजय ॥ २ ॥

विषया विनिवर्तंते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परंदृष्टवा निवर्तते ॥५९॥

सर्वत्र जो अनासक्त पाता जब भला बुरा ।
न करे हर्ष या द्वेष है स्थित-प्रज्ञ जान तू ॥ ५७ ॥

लेता समेट संपूर्ण ईंद्रियोंको विषयसे ।
जैसे कूर्म सभी अंग तभी प्रज्ञा हुयी स्थिर ॥ ५८ ॥

निराहार बलसे जो तजे विषय देहके ।
रस न छोड़ता चित्त जलता आत्म ज्ञानसे ॥ ५९ ॥

परंदृष्ट्वा निवर्तते—

अर्जुन ! तुझसे एक । कहूंगा ऐसा कौतुक ।
विषयोंके हैं साधक । करते नियम ॥ ३ ॥

संयम करते श्रोत्रादिक । किंतु छोड़ते रसना एक ।
घेरते घर रूप अनेक । तब विषय ॥ ४ ॥

ऊपर तोड़कर अंकुर । जड़में सदा जल देकर ।
फैलेगा वृक्ष जैसा अपार । नाश ऐसा ॥ ५ ॥

पीकर जल वह अधिक । फैलाता जैसा अंग अनेक ।
रसनासे विषय अनेक । फलते मनमें ॥ ६ ॥

टूटते अन्य इंद्रियोंके । विषय नहीं रसनाके ।
हैं जो आधार जीवनके । इसीलिये ॥ ७ ॥

अर्जुन इसका नियमन । होता है तब सहज जान ।
परब्रह्मानुभव महान । होता जब ॥ ८ ॥

शरीरभाव भी मिटता । करण विषय भूलता ।
ब्रह्मभाव प्रतीत होता । अपनेमें ही ॥ ९ ॥

यततो ह्यपि कौंतेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः ॥६०॥

इंद्रियोंकी प्रबलता—

वैसे तो सुन तू अर्जुन । न होती इंद्रियां स्वाधीन ।
साधक करते जतन । निरंतर ॥ ३१० ॥

अभ्यासका कर घर । यम नियमका द्वार ।
मनको पकड कर । रखते मुट्ठिमें ॥ ११ ॥

करते हैं इंद्रियां व्याकुल । साधकोंको भी जो हैं कुशल ।
मांत्रिकको जैसे है चुडैल । भ्रष्ट करती ॥ १२ ॥

ज्ञानियोंके मनको भी यत्नमें रहते हुये ।
हटाती वेगसे मत्त इंद्रियां बलवान जो ॥ ६० ॥

विषय भी होते हैं ऐसे । जो ऋध्दि-सिध्दिके रूपसे ।
जकडते हैं आ स्पर्शसे । इंद्रियोंको ॥ १३ ॥

उनके संगमें जाता है मन । अभ्यासमें होकर बल हीन ।
बल है ऐसा इंद्रियोंका जान । तू धनंजय ॥ १४ ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीतमत्परः ।
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

रहो हृदयमें सदा अनुरक्त मेरा—

इसीलिये तू सुन पार्थ । छोडके विषयोंमें आस्था ।
इनका दमन सर्वथा । । कर निरंतर ॥ १५ ॥
इसीको तू जान अर्जुन । योग निष्ठाका है कारण ।
विषयोंसे अंतःकरण । न होता लिप्त ॥ १६ ॥
अजी ! जो आत्म बोध युक्त । होकर रहता सतत ।
हृदयमें हो अनुरक्त । रहता मेरा ॥ १७ ॥

विषयीको आत्मसुख नहीं—

किया बाह्य विषयोंका त्याग । अंदरसे रहा अनुराग ।
तब साद्यंत संसार भोग । करता वह ॥ १८ ॥
जैसा विषका लेश । लेनेसे होता विशेष ।
करता वह विनाश । जीवनका ॥ १९ ॥
वैसे विषयोंका अंश । मनमें रहके नाश ।
करता जान अशेष । विवेकको ॥ ३२० ॥

ध्यायतो विषयान् पूंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

उनको युक्तिसे रोक रहना मत्परायण ।
जिसने इंद्रियां जीती है स्थित-प्रज्ञ जान तू ॥ ६१ ॥
करे जो विषय ध्यान उनकी लगती लत ।
लतसे फूटता काम कामसे क्रोध उद्भव ॥ ६२ ॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुध्दिनाशो बुध्दिनाशात् प्रणश्यति ॥ ६३॥

करता यदि मन विषय मनन । नि संगका भी होता उससे रंजन।
रंजनसे प्रकट होती मूर्तिमान । अभिलाषा तब ॥ २१ ॥

होता है जहां काम उत्पन्न । क्रोधका वहां जमा आसन।
क्रोध संगमें मोहको मान । अपने आप ॥ २२ ॥

मोहसे घिरते ही व्यक्ति । नाश होती उसकी स्मृति।
जैसे बवंडरमें ज्योति । बुझ जाती है ॥ २३ ॥

अथवा सायंकालमें निशा । ग्रासती जैसा सूर्य प्रकाश।
वैसी ही स्मृति भ्रंशमें दशा । होती मनुष्यकी ॥ २४ ॥

अज्ञानांध तब केवल । उससे घिरे हैं सकल।
होती वहां बुध्दि व्याकुल । हृदयमें पार्थ ॥ २५ ॥

जन्मांध जैसे घबड़ाहटमें । अकुलाता है भाग दौड़में ।
होता वैसा बुद्धिका संसारमें । धनुर्धर ॥ २६ ॥

जब ऐसा बुध्दि-भ्रंश होता । सर्वत्र उसका कुंठा होता।
ज्ञानका वहां नाश होता । मूल रूपसे ॥ २७ ॥

चैतन्यके नाशसे जैसे । होती देहकी दशा वैसे।
पुरुषकी बुध्दि-नाशसे । होती है जान ॥ २८ ॥

इसीलिये सुन अर्जुन । जैसे चिनगारी इंधन।
पड़ बढ़ती त्रिभुवन । जलाती जाती ॥ २९ ॥

वैसे विषयोंका ध्यान । जब करता है मन ।
उससे होता पतन । जान निश्चय ॥ ३३० ॥

फूटता क्रोधसे मोह मोहसे स्मृति लोप है ।
स्मृसि लोप बुध्दि-नाश उसीमें आत्म-नाश है ॥ ६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

आत्मतत्व प्राप्त पुरुष भी इंद्रियोंके लाड करके क्लेश ही पायेगा

तभी विषयोंको मनसे । त्यागना है जड़ मूलसे
रागद्वेष सहजतासे । नष्ट होंगे सब ॥ ३१ ॥

पुन अजुन बात और एक । होकर नष्ट रागद्वेषादिक ।
इंद्रियोंका रमना है बाधक । न होता विषयोंमें ॥ ३२ ॥

सूर्य जैसा आकाशगत । छूता किरणोंसे जगत ।
किंतु संग-दोषसे लिप्त । होता नहीं ॥ ३३ ॥

इंद्रियोंमें वैसे उदासीन । आत्मरसमें होके तल्लीन ।
औ' कामक्रोधादिसे विहीन । होकर रहता ॥ ३४ ॥

विषयोंमें भी है जो सतत । आत्म तत्वमें रहता रत ।
उसको होंगे विषय पार्थ । बाधक कैसे ॥ ३५ ॥

पानीमें यदि पानी डूबता । तथा आगसे अग्नि जलता ।
तभी विषयोंमें है डूबता । जो है पूर्ण ॥ ३६ ॥

अपनेमें आप केवल । होकर रहा जो निर्मल ।
उसकी प्रज्ञा है निश्चल । तथा निर्भ्रांत ॥ ३७ ॥

प्रसादे सर्व दुःखानाम् हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्न चेतसो ह्यासु बुध्दिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

पाता प्रसन्नता अखंडित । जिसका चित्त है सदोदित ।
वहां प्रवेश नहीं समस्त । भवदुःखोंका ॥ ३८ ॥

मिटा तो राग औ' द्वेष होती हैं इंद्रियां वश ।
प्रभुत्वसे इंद्रियोंके प्रसाद मिलता फिर ॥ ६४ ॥

प्रसादसे सभी दुःख होते हैं नाश सत्वर ।
प्रसादसे बुध्दिकी तो स्थिरता शीघ्र निश्चित ॥ ६५ ॥

जैसे अमृतका निर्झर । बहाता जिसका उदर ।
भूख प्यासका क्या असर । उसपे होगा ॥ ३९ ॥

हृदय जब प्रसन्न होता है । तब दुःख वहां कैसे रहता है ।
सहज रूपसे मति रहती है । परमात्मामें ॥ ३४० ॥

जैसे निर्वातका दीप । न जाने सर्वथा कंप ।
स्थिर बुध्दिका स्वरूप । योगयुक्त वैसे ॥ ४१ ॥

नास्ति बुध्दिरयुक्तस्य न चा युक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

मुक्तताका यह मंथन । न करता जिसका मन ।
जकडा जाता वह जान । विषयादिकोंमें ॥ ४२ ॥

उसमें स्थिर बुध्दि पार्थ । कुछ भी नहीं है सर्वथा ।
तथा स्थिरताकी जो आस्ता । नहीं होगी ॥ ४३ ॥

निश्चलताकी भावना । चितमें न होती उत्पन्न ।
शांति होगी कैसी अर्जुन । उसको कभी ॥ ४४ ॥

नहीं जहां शांतिकी लगन । वहां न होता सुखका स्थान ।
पापियोंका जो ऐसा जीवन । वहां न देखता मोक्ष ॥ ४५

बीजको आगमें भूनकर । बोनेसे नहीं आता अंकुर ।
वैसा सुख नहीं पाता नर । है जो आशांत ॥ ४६ ॥

तभी अयुक्तपन मनका । वही सर्वस्व है दुःखका ।
कारण उसका इंद्रियोंका । भला दमन ॥ ४७ ॥

इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

अयुक्तको नहीं बुध्दि उससे भावना नहीं ।
न भाव-हीनको शांति नहीं सुख अशांतको ॥ ६६ ॥

इंद्रियां दौड़ती स्वैर पीछे ही चलता मन ।
मानो प्रज्ञा बंधी नौका नदीमें वायुसे चली ॥ ६७ ॥

जो जो इंद्रिय है करते । वहा जो पुरुष करत ।
वे तरके भी न तरते । विषय सिंधु ॥ ४८ ॥

जैसे नांव लगी जो तीर । वही आंधीमें फंसकर ।
आती जैसी बीच भंवर । अपने आप ॥ ४९ ॥

वैसे आत्मत्व प्राप्त पुरुषके । दुलार करनस इंद्रियोंके ।
पायेगा वह क्लेश संसारके । अपने आप ॥ ३५० ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिये स्थितप्रज्ञ दक्ष रहता है

अपने आप यदि अर्जुन । किया है इंद्रियोंको आधीन ।
पाना कछु रहा नहीं जान । इससे अधिक ॥ ५१ ॥

कछुवा जसे अपने फैलाता । अवयव जब वह चाहता ।
नहीं तो इच्छासे सिकोड़ लेता । अपनेमें आप ॥ ५२ ॥

इंद्रियां जिसकी अपनी होतीं । वह कहें जैसी ह बरततीं ।
जानो वह हुवा है स्थिर मति । धनुर्धर तू ॥ ५३ ॥

अब और एक गहन । कहूंगा सुनो पहचान ।
जिसने पाया है अर्जुन । पूर्णत्वको ॥ ५४ ॥

यानिशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

होते हैं जहां सब निद्रित । होता है वह वहां जाग्रत ।
जहां होते हैं सब जाग्रत । वह सोता है ॥ ५५ ॥

जिसने इंद्रियां सारीं सार्वथा है समेटलीं ।
स-निग्रह विषयोंसे तभी प्रज्ञा हुयी स्थिर ॥ ६८ ॥

रात जो सब भूतोंकी संयमी जागता वहां ।
जहां जगे सभी भूत मुनिकी रात है वह ॥ ६९ ॥

होता है वही निरुपाधि । उसे जान तू स्थिर-बुध्दि।
वही होता है निरवधि । मुनीश्वर ॥ ५६ ॥

आपूर्यमाणं अचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशंति सर्वे
स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

समी सुख-समुद्र उसमें लीन—

अर्जुन और एक प्रकार । उसको जाननेका विचार ।
शांत रहता जैसा सागर । अखंडित ॥ ५७ ॥
सरिता ओघ यदि समस्त । करते हैं जल समर्पित ।
तो भी रहता जैसे सीमित । अपनी सीमामें ॥ ५८ ॥
अथवा ग्रीष्मकालमें सरिता । सुखालेती है प्रवाह सर्वथा ।
किंतु उसमें न्यून नहीं आता । समुद्र वैसाही ॥ ५९ ॥
वैसे ही पानेसे ऋध्दि सिध्दि । नहीं क्षोभती उसकी बुध्दि ।
न मिलनेसे उसकी बुध्दि । न होती उदास ॥ ३६० ॥
अथवा सूरजके समीप । प्रकाश लगते क्या दीप ।
होता क्या न लगानेसे दीप । अंधार वहां ॥ ६१ ॥
ऋध्दि सिध्दिका उसपर । न होता कुछ भी असर ।
हियमें होती निरंतर । शांति उसके ॥ ६२ ॥
मानता जो अपना वैभव महान । उसके सम्मुख तुच्छ इंद्र भुवन ।
वह करें क्या पर्ण-कुटिमें रंजन । भिल्लोंकी ॥ ६३ ॥

न भंग पाता भर भी सदैव
समुद्र है नीर सभी पचाता ।
वैसे प्रचाते सब काम भोग
वे शांति पाते नहीं भोग-लुब्ध ॥७०॥

अमृतको जो फीका मानता । वह क्या कांजी पीता बैठता ।
वैसा ही स्वानुभावी त्यागता । ऋध्दि सिध्दि ॥ ६४ ॥
पार्थ है यह नवल देख । तुच्छ है जहां स्वर्गका सुख ।
वहां ऋध्दि सिध्दिकी क्या साख । रहती है ॥ ६५ ॥

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारःस शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

ममता और अहंता त्यागमें शांति—

ऐसा आत्म बोधमें तुष्ट । परमानंदमें है पुष्ट ।
वही है स्थित-प्रज्ञ श्रेष्ठ । जान तू ॥ ६६ ॥
अहंकारको जो मिटाकर । सब कामनाको त्याग कर
विचरता विश्वमें बनकर । विश्वमें ही ॥ ६७ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

यही ब्राह्मी स्थिति—

है यह ब्राह्मी स्थिति निःसीम । अनुभवनेसे जो निष्काम
अनायास पाये पर-ब्रह्म । धनंजय ॥ ६८ ॥
चिद्रूपमें जब मिलता । देह-अंतकी व्याकुलता ।
नहीं वह अनुभवता । चितमें अपने ॥ ६९ ॥
वही है यह स्थिति । स्वमुखसे श्रीपति ।
कहते पार्थके प्रति । बोले संजय ॥ ३७० ॥

तजके कामना सारी फिर होकर निःस्पृह ।
अहंता ममता छूटी हुवा जो शांति रुप ही ॥ ७१ ॥

अर्जुन स्थिति है ब्राह्मी पाके न टलती वह ।
टिकती अंतमें भी जो ब्रह्म निर्वाण दायिनी ॥ ७२ ॥

सुनकर यह कृष्ण वचन । अर्जुन कहता मन ही मन।
इस विचारसे है सिद्ध जान । अपना कार्य ॥ ७१ ॥

तीसरे अध्यायकी भूमिका—

कर्म- मार्ग इससे संपूर्ण । होता सहज निराकरण ।
तब रहा युद्धका कारण । कहां औ' कैसे ॥ ७२ ॥
इस विचारसे अर्जुन । होकर संतुष्ट महान।
पूछेगा भला-सा प्रश्न । संदेहसे ॥ ७३ ॥
वह प्रसंग अति सुंदर । सकल धर्मका है आगर ।
या विवेकामृतका सागर । सीमातीत ॥ ७४ ॥
है जो स्वयं सर्वज्ञ नाथ । कहेगा अब श्रीअनंत ।
वही है ज्ञानदेव बात । निवृत्तिदास ॥ ७५ ॥

गीता श्लोक ७२
ज्ञानेश्वरी ओवी ३७५.

३

कर्मयोग

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मतावुध्दिर्जनादन ।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

तो रर्म करने क्यों कहता है ?—

सुनो तब बोला अर्जुन । देव तूने कहा वचन ।
किया है उसका मनन । कमलापति ॥ १ ॥

वहां कर्म तथा कर्ता । देखनेसे नहीं रहता ।
ऐसा मत तेरा अनंत । यदि निश्चित है ॥ २ ॥

मुझे तब कैसा श्रीधर । कहता है तू युद्ध कर ।
यहां कर्ममें महा घोर । ढकलता कैसे ॥ ३ ॥

अजी तू ही कर्म अशेष । निषेध करता नि:शेष
किंतु मुझसे यह हिंसक । कराता कैसे ॥ ४ ॥

सोचो यह हृषीकेश । मानता तू कर्म-लेश ।
हमसे तू ऐसी हिंसा । कराता है ॥ ५ ॥

अर्जुनने कहा

कर्मसे बुद्धिको श्रेष्ठ मानता तू जनार्दन ।
तब क्यों कर्ममें घोर डालता मुझ केशव ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुध्दिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

सरल शब्दोमें उपदेश दो—

तू ही जब देव ! ऐसा कहता । अज्ञानी मैं कह क्या करता ।
मिट ही गयी अब मनो-वार्ता । विवेककी ॥ ६ ॥

ऐसा यदि तेरा उपदेश । रहा क्या दूसरा स्मृति-भ्रंश ।
हुआ अब संपूर्ण विनाश । आत्मबोधका ॥ ७ ॥

वैद्य पहला पथ्य कहता । फिरसे चुपके विष देता ।
फिर क्या है रोगीका बनता । कहो मुझे ॥ ८ ॥

भटकना जैसे अंधेको । मद्य पिलाना मर्कटको ।
वैसा उपदेश हमको । देता सुन्दर ॥ ९ ॥

पहले ही मैं हूं अजान । फिर मोहग्रस्त महान ।
विवेक मैंने यह मान । तुझसे पूछा ॥ १० ॥

देव ! है तेरी निराली बात । उपदेशसे चित्त भ्रमित ।
ऐसे करना है क्या उचित । अपनोंसे ॥ ११ ॥

हम हैं तन-मन जीवसे । करें अनुकरण सदासे ।
तथा तेरा करना जो ऐसे । मिटा सर्वस ॥ १२ ॥

ऐसा यदि तेरा उपदेश । उसमें कैसी हितकी आस ।
औ' मिटे ज्ञानार्जनकी आस । कहता अर्जुन ॥ १३ ॥

गई कुछ जाननेकी बात । मन भी हुआ अव्यस्थित ।
पहले था जो स्थिर चित्त । मेरा देव ॥ १४ ॥

वैसे है श्रीकृष्ण तेरा । चरित्र अति गहरा ।
तू देखता चित्त मेरा । इस बहाने ॥ १५ ॥

अथवा तू हमें फंसाता । या गूढ तत्व है कहता ।
वह समझमें न आता । सोचनेसे ॥ १६ ॥

मिश्र-वचनसे बुद्धि करता मोह-युक्त तू ।
जिससे श्रेय पावूं मैं कह तू एक निश्चित ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण बात मेरी सुनना । गूढार्थ मुझसे न बोलना ।
सरल विवेक जो कहना । देश-भाषामें ॥ १७ ॥

मेरी मति है जड़ अत्यंत । तो भी समझुं ऐसी ही बात ।
हरि तुझे बोलना सतत । निश्चयात्मक ॥ १८ ॥

रोगको है यदि जीतना । उस पर औषध देना ।
किंतु वह सुस्वादु होना । अति मधुर ॥ १९ ॥

देव तेरे जैसे सद्‌गुरु । इच्छाकी तृप्ति क्यों न करूं ।
यहां संकोच किसका धरूं । तू ही माय मेरी ॥ २० ॥

अजी ! कामधेनु दुहनेमें । आयी अपने ही सदनमें ।
तब भी कामना करनेमें । कृपणता क्यों ? ॥ २१ ॥

चिंतामणि करमें आया । वांछित जो मन भाया ।
भोगनेमें संकोच किया । ऐसा क्यों ॥ २२ ॥

अमृत-सागरके पास । आके न मिटाता है प्यास ।
आना तब उसके पास । व्यर्थ ही है ॥ २४ ॥

जन्मोंकी उपासनासे । श्रीहरि दैव योगसे ।
तू हुआ है अपनेसे । आधीन आज ॥ २५ ॥

तभी न मांगें क्यों सर्वस । सुकाल है यह परेश ।
आयी जन्मांतरकी आस । पूर्ण होनेको ॥ २६ ॥

सकल जीवन सफल । मिला पुण्य यशका फल ।
सिद्ध मनोरथ सकल । हुए मेरे ॥ २७ ॥

सकल मंगल धाम । अजी देवदेवोत्तम ।
हुआ आज पूर्ण काम । तू स्वाधीन है ॥ २८ ॥

माताके पास बालक जैसे । लगता है स्तनमें स्वेच्छासे ।
न देखे काल अकाल वैसे । भक्त वत्सल ॥ २९ ॥

वैसे देव तुझसे । पूछते हैं स्वेच्छासे ।
न जाने समय ऐसे । कृपानिधि ॥ ३० ॥

देव ! सर्वत्र जो हित । आचरणमें उचित ।
कह एक जो निश्चित । कहता पार्थ ॥ ३१ ॥

भगवान उवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

अधिकार भेदसे उपदेश भिन्नता—

इस बातसे अच्युत । कहता है हो विस्मित ।
अर्जुनका है ध्वनित । अभिप्रायसे ॥ ३२ ॥

अजी ! बुध्दि-योगकी बात । कहनेमें ही सांख्यमत ।
प्रकट किया स्वभावतः । अल्पमें ही ॥ ३३ ॥

उद्देश्य न वह जान कर । क्षुभित हुआ तेरा अंतर ।
कहूंगा मैं दोनों सत्वर । योग मार्ग ॥ ३४ ॥

सरल शब्दोंमें उपदेश दो—

सुन तू वीर श्रेष्ठ । जनमें दोनों निष्ठा ।
मुझसे ही प्रकट । अनादि सिद्ध ॥ ३५ ॥

एक ज्ञान-योग कहलाता । अनुष्ठान जो सांख्य करता ।
मूल तत्वसे है तन्मयता । पाता है वह ॥ ३६ ॥

दूसरा कर्मयोग जान । जो साधक जन निपुण ।
प्राप्त करते वे निर्वाण । परमगति ॥ ३७ ॥

मार्ग है दोनों भिन्न । अन्तमें हैं समान ।
पक्वापक्व भोजन । तृप्ति एक ॥ ३८ ॥

या पूर्व-पश्चिमकी सरिता । दीखनेमें है अति भिन्नता ।
सागर संगमसे एकता । होती दोनोंमें ॥ ३९ ॥

वैसे हैं ये दोनों मत । एक हेतुसे प्रेरित ।
किंतु जैसे उपासित । योग्यतासे ॥ ४० ॥

श्रीभगवानने कहा

जगमें दो हरी निष्ठा कही है पहले तुझे ।
ज्ञानसे सांख्य जो पाते योगी हैं कर्मसे यही ॥ ३ ॥

पंछी जैसे उड़कर । पाता है फल सत्वर ।
पायेगा क्या ऐसा नर । पक्षिकी भांति ॥ ४१ ॥

चढेगा वह डाल डाल । देख करके काल वेल ।
धीरेसे पायेगा ही फल । निश्चित ॥ ४२ ॥

वैसे विहंगम गतिसे । आचरण कर ज्ञानसे ।
सांख्य अति तीव्र गतिसे । पाता मोक्ष ॥ ४३ ॥

वैसे योगी कर्माधार । बिधिसे कर्म आचर ।
पूर्णत्व स-अवसर । पाता ही है ॥ ४४ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिध्दिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

न कर कर्मारंभ उचित । बनना चाहे तो सिद्धवत ।
कर्म हीनको जान निश्चित । असंभव ॥ ४५ ॥

प्राप्त कर्म छोडना । फिर नैष्कर्म्य होना ।
व्यर्थ बोल अर्जुन । मूर्खताके ॥ ४६ ॥

वहां किनारे लगना । यहां नावको त्यजना ।
ऐसी बातोंका घडना । कैसे होगा ॥ ४७ ॥

इच्छा करना भोजनकी । किंतु पाक न करनेकी ।
सिद्ध पाक भी त्यजनेकी । होगी कैसी ॥ ४८ ॥

जब तक नहीं हुई निरिच्छिता । तब तक कर्मकी अनिवार्यता ।
आत्म तृप्तिसे मिटता स्वभावता । कर्म बंधन ॥ ४९ ॥

इसलिये तू सुन पार्थ । जिसे है नैकर्म्यमें आस्था ।
उसे उचित कर्म सर्वथा । नहीं त्याज्य ॥ ५० ॥

अपने करनेसे होता । तथा छोड़नेसे मिटता ।
इच्छा पर है क्या चलता । कभी कर्म ॥ ५१ ॥

टालके कर्म आरंभ नैष्कर्म्य मिलता नहीं ।
संन्यासकी क्रियासे ही न पाते पूर्ण सिद्धिको ॥ ४ ॥

ऐसा बोलना जान व्यर्थका । हल करना उलझनका ।
त्यजनेसे न होता कर्मका । त्याग निश्चित ॥ ५२ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

कर्मातीत अवस्थामें कर्मत्याग असंभव—

जब है प्रकृतिका अधिष्ठान । तब छोड़ना करना अज्ञान ।
चेष्टायें चलती हैं गुणाधीन । अपने आप ॥ ५३ ॥

विहित कर्म है जितना । ठान लिया यदि त्यागना ।
मिटेंगे क्या स्वभाव नाना । इंद्रियोंके ॥ ५४ ॥

सुनना छोडेंगे क्या कान । देखना छोडेंगे नयन ।
सूंघना भूलेगा क्या घ्राण । गंध जो ॥ ५५ ॥

अथवा प्राणापानकी गति । निर्विकल्प बनेगी क्या मति ।
तथा क्षुधा-तृषादिकी आर्ति । मिटेगी क्या ॥ ५६ ॥

मिटेगा क्या स्वप्नादि बोध । भूलेंगे क्या चलना पाद ।
तथा जन्म-मृत्युका नाद । मिटेगा क्या ॥ ५७ ॥

यह सब नहीं रुकता । इसीलिये कर्म रहता ।
कर्मका त्याग नहीं होता । देह धारिका ॥ ५८ ॥

कर्म होता है पराधीन । प्रकृति गुणसे निष्पन्न ।
चित्तका यह अभिमान । है व्यर्थका ॥ ५९ ॥

बैठा जब रथ पर । अति निश्चल होकर ।
किंतु चले पथ पर । परतंत्र हो ॥ ६० ॥

अथवा उड़ा हवासे । सूखा पत्ता ऊंचा जैसे ।
भ्रमता निश्चेष्टातासे । आकाशमें ॥ ६१ ॥

बिना कर्म कभी कोयी न रहे क्षण-मात्र भी ।
प्रकृति गुणसे सारे बद्ध हो करते नित ॥ ५ ॥

वैसे प्रकृति आधार । कर्मेंद्रियोंके विकार ।
चले कर्म निरंतर । नैष्कर्म्यका ॥ ६२ ॥

जब तक नाता है प्रकृतिका । तब तक त्याग न होता कर्मका ।
ऐसा करूंगा कहनेवालों का । रहता है उठ ॥ ६३ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

कर्म त्यागमें नैष्कर्म्यका दंभ—

उचित कर्म जो छोड़ते । नैष्कर्म्य साधना चाहते ।
प्रकृति निरोध करते । कर्मेंद्रियोंकी ॥ ६४ ॥

उनका कर्म त्याग नहीं होता । कर्तव्य भाव मनमें रहता ।
वैसा केवल बनाव बनता । दरिद्र जो ॥ ६५ ॥

ऐसे वे रहते पार्थ । विषयासक्त सर्वथा ।
जानना यह तत्वता । मिथ्यात ॥ ६६ ॥

अब मेरी बात सुन । अवसर है अर्जुन ।
कहता नैष्कर्म्य चिन्ह । तुझसे मैं ॥ ६७ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

आत्मरत कर्मोंसे कर्म-मुक्त नैष्कर्मी है—

होता जो अन्तरमें दृढ । परमात्म रूपमें गूढ ।
बाहर लौकिकमें रूढ । सबका सा ॥ ६८ ॥

इंद्रियोंको आज्ञा नहीं देता । विषयोंका भय न धरता ।
प्राप्त कर्म वह न छोड़ता । उचित जो ॥ ६९ ॥

रोक कर्मेंद्रियोंको तो चित्तमें स्मरता रहा ।
विषयोंको मूढ-मूढ मिथ्याचारी कहा उसे ॥ ६ ॥

मनसे इंद्रियोंको तो लगके कर्ममें नित ।
निःसंग रहता योगी माना वह विशेष है ॥ ७ ॥

इंद्रियोंको वह कर्ममें । नहीं रोकता बंधनमें ।
किंतु उनकी उर्मियोंमें । उलझता नहीं ॥ ७० ॥

न होता कामनामें लिप्त । नहीं मोह मलमें सिक्त ।
सदा रहता है अलिप्त । पद्मपत्रसा ॥ ७१ ॥

सबके संगमें वह रहता । सबके समान वह दीखता ।
जैसे जलमें है आभास होता । भानुबिंबका ॥ ७२ ॥

जन सामान्यसा रहता । साधारण ही दीखता ।
वैसे निर्णय नहीं होता । कल्पनासे भी ॥ ७३ ॥

ऐसे चिन्होंसे चिन्हित । रहता है वह मुक्त ।
आशा पाशसे रहित । उसे जान ॥ ७४ ॥

वही है योगी कहलाता । विश्व-विशेष हो रहता ।
तभी मैं तुझसे कहता । बन वैसा ॥ ७५ ॥

मनका तू नियमन कर । निश्चल कर निज अन्तर ।
कर्मेंद्रियोंका व्यापार कर । सुखसे तब ॥ ७६ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

निरंहकार निष्काम कर्म कर –

होना चाहे यदि कर्मातीत । यह यहां असंभव बात ।
सोचो निषिद्धकर्ममें रत । रहे क्यों ॥ ७७ ॥

इसी लिये जो है उचित । तथा समय पर प्राप्त ।
वह कर्म, हेतु रहित । करते जाना ॥ ७८ ॥

पार्थ अन्य ही एक । न जाने तू कौतुक ।
ऐसा कर्म मोचक । सहज होता ॥ ७९ ॥

रहता जो कर्मानुगत । स्वधर्ममें सतत रत ।
जिससे है मोक्ष निश्चत । जान तू ॥ ८० ॥

नेमे हुये करो कर्म योग्य हैं करना इसे ।
तेरी शरीर यात्रा भी बिना कर्म चले नहीं ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

स्वधर्म अनादि और अनिवार्य –

स्वधर्म जो है अर्जुन । वही नित्य यज्ञ जान ।
करनेसे आचरण । नहीं पाप ॥ ८१ ॥

त्यजनेसे निज-धर्म । चिपकते हैं कुकर्म ।
यह बंधनका मर्म । सांसारिक ॥ ८२ ॥

तभी स्वधर्माचरण । नित्य यज्ञके समान ।
जिससे होता बंधन । कभी नहीं ॥ ८३ ॥

लोक है यह कर्ममें बद्ध । परतंत्र देहमें आबद्ध ।
क्यों कि हैं नित्य यज्ञ विरुद्ध । चलनेसे ॥ ८४ ॥

इस विषयमें अब पार्थ । कहता हूं तुझे एक कथा ।
विश्व आदिकी यह है संस्था । रची ब्रह्माने ॥ ८५ ॥

सहयज्ञाः प्रजाःसृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वम् एषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

वह नित्य-याग सहित । सृजे भूत मात्र समस्त ।
किंतु ये यज्ञसे अज्ञात । सूक्ष्म होनेसे ॥ ८६ ॥

प्रार्थना जब की प्रजाने ब्रह्माकी । औ' याचना की उनसे आश्रयकी ।
कमल संभवने तब बात की । भूतमात्रसे ॥ ८७ ॥

वर्ण विशेषको हमने उचित । व्यवस्था की है स्वधर्मकी निश्चित ।
उस पर चलनेसे है खचित । इच्छा तृप्ति ॥ ८८ ॥

यज्ञार्थ कर्मको छोड लोकमें कर्म-बंधन ।
यज्ञार्थ ही कर कर्म अर्जुन मुक्त संग तू ॥ ९ ॥

प्रजाके साथ ही यज्ञ ब्रह्माने सृजके कहा ।
यज्ञोंसे ही बनो श्रेष्ठ तुम्हारी कामधेनु ये ॥ १० ॥

न करना अनुष्ठान । न यात्रादि तीर्थस्थान
औ' अन्य देह दंढन । करना नहीं ॥ ८९ ॥

नृ करे योगादि साधन । तथा सकाम आराधन ।
मंत्र तंत्र आदि विधान । अनावश्यक ॥ ९० ॥

देवताओंका पूजन । सर्वथा ही वर्ज मान ।
करो स्वधर्माचरण । अनायास ॥ ९१ ॥

सदा अहेतुक भावसे । ततिव्रता जैसे पतिसे ।
अनुसरना तुम वैसे । स्वधर्मको ॥ ९२ ॥

वैसा स्वधर्म रूप मख । यही नित्य सेव्य है एक ।
ऐसा सत्य-लोक नायक । कहने लगे ॥ ९३ ॥

नित जो स्वधर्म भजेगा । उसकी कामधेनु होगा ।
न प्रजाको वह त्यजेगा । यह निश्चित ॥ ९४ ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

इससे होगा समस्त । संतुष्ट होंगे दैवत ।
फिर तुम्हे वे ईप्सित । देंगे वर ॥ ९५ ॥

स्वधर्म पूजनसे नित । देव गण मिल समस्त ।
योग क्षेम सब निश्चित । देखेंगे तुम्हारा ॥ ९६ ॥

देवोंको तुम भजोगे । देव तुम्हें तोष देंगे ।
ऐसा परस्पर होगा । प्रेम वहां ॥ ९७ ॥

जहां जो करना चाहेगा । वह सहज सिद्ध होगा ।
वांछित जो वर मिलेगा । मानसका ॥ ९८ ॥

वाचा सिद्धि मिलेगी । आज्ञा धारक होंगी ।
तुमसे आज्ञ लेंगी । महा सिद्धियां ॥ ९९ ॥

देवोंको यज्ञसे तोषो तोषेंगे देव भी तुम्हें ।
अन्योन्य करके तुष्ठ पावो परम श्रेयको ॥ ११ ॥

जैसे ऋतुपतिका द्वार । वनश्रीसे ही निरंतर ।
लदा रहता फल भार । सौंदर्यमय ॥ १०० ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

वैसे सब सुखके साथ । दैव ही जैसे मूर्तिमंत ।
खोज कर तुम्हारा पथ । आयेगा जान ॥ १ ॥

होंगे समस्त भोग भरित । वैसे ही सदा इच्छा रहित ।
होंगे यदि स्वधर्म निरत । रहोगे भाई ॥ २ ॥

किंतु सकल संपदा तजकर । तथा इंद्रिय मदमें डूब कर ।
विषय स्वादमें जो लुब्ध होकर । रहता है सदा ॥ ३ ॥

तजकर वह यज्ञ भाव । देते हैं जो यज्ञ-तुष्ट देव ।
रख ईश्वरमें भक्ति भाव । भजेगा नहीं ॥ ४ ॥

न अग्नि मुखमें हवन । न करेगा देवतार्चन ।
न प्राप्त समय भोजन । ब्राह्मणोंको ॥ ५ ॥

नहीं करेगा गुरु-भक्ति । तथा न आदर अतिथि ।
न रखेगा संतुष्ट जाति । अपनी भी ॥ ६ ॥

स्वधर्म-क्रिया रहित । संपन्नतामें प्रमत्त ।
ऐसा मात्र भोगासक्त । होगा वह ॥ ७ ॥

इसमें है आपदा बहुत । संपदा होगी उसकी हत ।
न भोग सकेगा वह प्राप्त । भोग भी कभी ॥ ८ ॥

शरीर है जिसका गतायुष । उसमें न होता चैतन्यवास ।
दैव हत घरमें कभी वास । न होता लक्ष्मीका ॥ ९ ॥

लोप होता है जब स्वधर्मका । टूटता तब आश्रय सुखका ।
मिटता बुझनेसे दीपकका । प्रकाश जैसे ॥ १० ॥

यज्ञ-तुष्ट तुम्हें देव देंगे इच्छित भोग जो ।
उनका न उन्हे देके खाता जो वह चोर है ॥ १२ ॥

मिटती है जब निज-वृत्ति । न रहती स्वातंत्र्यकी वस्ती।
सुनो प्रजाजन यह उक्ति । कहता है ब्रह्म ॥ ११ ॥

जो कोई स्वधर्म छोड़ेगा । उसको काल दंड देगा ।
चोर मानके हर लेगा । उसका सर्वस ॥ १२ ॥

जन्म देता सभी पापको । घेर लेते हैं जो उसको ।
रात्रि स-समय स्मशानको । जैसे भूत ॥ १३ ॥

दुःख क्लेश वहां त्रिभुवनके । पाप अनेकानेक प्रकारके ।
घर करते हैं दैन्य विश्वके । उसी स्थानमें ॥ १४ ॥

वह उन्मत्त ऐसे । कितने ही रोनेसे ।
कल्पांतमें भी उसे । नहीं मुक्ति ॥ १५ ॥
इसीलिये निज धर्म न छोड़ना । इंद्रियोंको नहीं भड़कने देना ।
चनुरानने कहे ये वचन । प्रजा जनसे ॥ १६ ॥
छोड़ते ही जैसे जलचर । उसी क्षणम जाता है मर।

वैसा ही स्वधर्म छोड़कर । होता नाश ॥ १७ ॥
इसीलिये तुमको समस्त । अपनेलिये है जो उचित ।
स्वकर्ममें रहना उचित । कहा ब्रह्मने ॥ १८ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यंते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वधं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

तन त्यक्तेन-शेष प्रसाद सेवन —

जो विहितक्रिया विधि । करे निर्हेतुक बुध्दि ।
जिससे प्राप्त समृद्धि । करता विनियोग ॥ १९ ॥

गुरु गोत्र अग्नि जो पूजता । स-समय द्विजको भजता ।
निमित्तादिकमें जो यजता । पितरुद्देरासे ॥ १२० ॥

यज्ञ क्रियामें जो उचित । आहुति देकर बचत ।
हुत शेष ही स्वभावतः । रहता है ॥ २१ ॥

खाके संत यज्ञ-शेष जलाते दोष हैं सब ।
पापी वे पाप खाते हैं पकाते अपने लिये ॥ १३ ॥

अपने घरमें उसका सुखसे । आप्त सहित भोजन करनेसे ।
वह सुख भोग ही सब दोषोंसे । करेगा मुक्त ॥ २२ ॥

वह यज्ञ-शिष्ट भोग । सभी हरते हैं अघ ।
जैसे नष्ट होते रोग । अमृत सिद्धिसे ॥ २३ ॥

अथवा तत्व निष्ठ जैसा । भ्रम रहित होता वैसा ।
यज्ञ शिष्ट भोग ही वैसा । होता दोष रहित ॥ २४ ॥

स्वधर्मसे जो किया उपार्जन । स्वधर्ममें व्यय कर सुजन ।
शेषका भोग करके अर्जुन । रहता तुष्ट ॥ २५ ॥

बिन उसके सुन तू पार्थ । आचरना नहीं अन्यथा ।
ऐसी है यह आदिकी कथा । कहता कृष्ण ॥ २६ ॥

जो हैं देहको ही आप मानते । विषय ही को है भोग्य जानते ।
बिन इसके नहीं समझते । दूसरा कुछ ॥ २७ ॥

जीवन है यज्ञोपकरण । न जानकर मोह कारण ।
भ्रमग्रस्त उदर भरण । करते अहंभावसे ॥ २८ ॥

जिव्हा चापल्यसे जो लोक । कराते रुचिकर पाक ।
सेवन करते पातक । पापी जन ॥ २९ ॥

जो है संपत्ति-मात्र संपूर्ण । यज्ञ द्रव्य होनेके कारण ।
करता स्वधर्म-यज्ञार्पण । आदि पुरुषमें ॥ १३० ॥

यज्ञ-शेष अन्न है ब्रह्म—

यह छोड़ कर मूर्ख । अपने लिये ही देख ।
बनवाते हैं सुपाक । नानाविध ॥ ३१ ॥

जिससे यज्ञ सिद्ध होता है । परेशको संतोष होता है ।
यह सामान्य नहीं होता है । अन्न तू जान ॥ ३२ ॥

इसे न मानना तू साधारण । जीवन हेतु होनेके कारण ।
ब्रह्मरूप अन्न है यह जान । विश्वमें सर्वत्र ॥ ३३ ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

अन्नसे ही हैं भूत । बढ़ते हैं समस्त ।
फिर मेघ अन्नार्थ । बरसते हैं ॥ ३४ ॥

यज्ञसे पर्जन्यका जन्म । यज्ञको प्रसवता है कर्म ।
तथा कर्मका आदि है ब्रह्म । वेद रुप ॥ ३५ ॥

फिर वेदोंका परापर । प्रसवता है अक्षर ।
इसीलिये सचराचर । ब्रह्म-बद्ध ॥ ३६ ॥

किंतु कर्मकी है जो मूर्ति । यज्ञमें अधिष्ठित श्रुति ।
सुन तू हे सुभद्रापति । अखंडित ॥ ३७ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

पूर्व कर्म-फल भोगके लिये मनुष्य जन्म—

ऐसी है आदि परंपरा । संक्षेपमें धनुर्धरा ।
कही है तुझसे अध्वरा– । केलिये ॥ ३८ ॥

तभी मूलमें यह उचित । स्वधर्म रूप यज्ञ सुकृत ।
आचरण न करते मत्त । इस लोकमें ॥ ३९ ॥

अन्नसे जन्मते जीव वर्षासे अन्न संभव ।
यज्ञसे बरसे वर्षा कर्मसे यज्ञ उद्भव ॥ १४ ॥

ब्रह्मसे कर्म उत्पन्न ब्रह्म अक्षरसे बना ।
सर्वव्यापक जो ब्रह्म यज्ञमें रहता नित ॥ १५ ॥

ऐसा प्रेरक जो चक्र निभाता जगमें नहीं ।
इंद्रियासक्त है पापी खोता है व्यर्थ जीवन ॥ १६ ॥

रचते वे ढेर पातकोंके । भार रूप जानो वे भूमिके ।
कुकर्म करते इंद्रियोंके । तोषार्थ जो ॥ १४० ॥

उनका जन्म कर्म सकल । अर्जुन है अति निष्फल ।
जैसे होता है अभ्र पटल । अकालका ॥ ४१ ॥

अथवा कंठ स्तन हैं अजके । वैसे जीवन है मान उनके ।
जिससे अनुष्ठान स्वधर्मके । घडते नहीं ॥ ४२ ॥

इसीलिये सुन अर्जुन । स्वधर्मको नहीं त्यजना ।
सर्व भावसे है भजना । यही एक ॥ ४३ ॥

शरीर हुवा यदि प्राप्त । वह पूर्व कर्मानुगत ।
फिर कर्तव्य जो उचित । छोडना क्यों ॥ ४४ ॥

सुन तू यह धनुर्धर । प्राप्त कर यह शरीर ।
आलस्य करते गंवार । कर्ममें जो ॥ ४५ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

आत्मलीन ही कर्म मुक्त–

वे रह कर देह धर्ममें । लिप्त नहीं होते हैं कर्ममें ।
रमते हैं जो आत्म रुपमें । अखंडित ॥ ४६ ॥

आत्मबोधमें जो मुदित । अपनेमें हुवा कृतार्थ ।
इसीलिये सहज मुक्त । कर्म संगसे ॥ ४७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

आत्मामें ही रमता जो तृप्त हो आत्म भोगमें ।
आत्मामें ही सदा तुष्ट वह कर्तव्य मुक्त है ॥ १७ ॥

करे या न करे कर्म उसको ना प्रयोजन ।
न रहा उसका लोभ किसी भी प्राणिमें कहीं ॥ १८ ॥

आत्महित और लोकहितार्थ कर्म—

तृप्ति हुई है जिसकी । साधना मिटी उसकी ।
बात आत्म-संतोषकी । कर्ममें नहीं ॥ ४८ ॥

जब तक है अर्जुन । आत्म-बोध न लेता मन ।
तब तक है साधना । रहती ही ॥ ४९ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इसीलिये तू नियत । सभी कामना रहित ।
होकर कर उचित । स्वधर्माचरण ॥ १५० ॥

स्वकर्ममें निष्कामता । अनुकरण किया पार्थ ।
उन्होने पाया है तत्वता । कैवल्यधाम ॥ ५१ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

देख तू जानकादिक । कर्मजात है अशेष ।
न छोड़के मोक्ष सुख । पाये यहां ॥ ५२ ॥

इस कारणसे पार्थ । करना कर्ममें आस्था ।
और भी एक है अर्थ । उपकारक ॥ ५३ ॥

अपने आचरण करनेसे । होगा अनुकरण जिससे ।
कर्म लोपकी विपदासे । बचेगा विश्व ॥ ५४ ॥

जिसने पाया जो पानेका । बीज भी मिटा कामनाका ।
फिर भी कर्तव्य उनका । रहा औरोंकेलिये ॥ ५५ ॥

तथैव नित्य निःसंग कर कर्तव्य कर्म तू ।
निःसंग करके कर्म कैवल्य पद लाभता ॥ १९ ॥

प्राप्त की है कर्मसे ही संसिद्धि जनकादिने ।
कर तू कर्म जो योग्य लोक-संग्रहकेलिये ॥ २० ॥

अंधोंको दिखानेमें जैसे । स-दृष्टि राह चला वैसे ।
आचरणसे धर्म वैसे । सिखाना मूढको ॥ ५६ ॥

ज्ञानी यदि ऐसा न करेंगे । अज्ञानी यह कैसे जानेंगे ।
कैसे धर्माचरण करेंगे । उचित रुपसे ॥ ५७ ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

बढ़े लोग जो जो करते । उसीको धर्म है कहते ।
उसको अन्य आचरते । सामान्य सभी ॥ ५८ ॥

ऐसा होना ही है स्वाभाविक । तभी कर्माचरण आवश्यक ।
विशेष रुपसे है अधिक । संत जनोंको ॥ ५९ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

मैं स्वयं कर्म रत हूं—

अब दूसरोंकी बात । कहूं क्यों तुझसे पार्थ ।
स्वयं कर्ममें सतत । रहता यहां ॥ १६० ॥

मुझमें है कोई अपूर्णता । अथवा किसी इच्छासे पार्थ ।
मैं स्वधर्माचरण करता । ऐसा कहो तो ॥ ६१ ॥

देखें तो पूर्णत्वकी दृष्टिसे । दूसरा नहीं विश्वमें ऐसे ।
मुझमें बसा बल है ऐसे । जानता तू ॥ ६२ ॥

मृत गुरु-पुत्रको दिया जीवन । तूने देखा है यह कार्य महान ।
औ' मैं कर रहा कर्म स-लगन । प्रसन्न चित्तसे ॥ ६३ ॥

जो जो आचरते श्रेष्ठ उसीको दूसरे जन ।
वह जो करता मान्य उसीको अन्य लोग भी ॥ २१ ॥

नहीं कर्तव्य कोयी भी मुझको तीन लोकमें ।
फिर भी मैं सदा पार्थ रहता कर्म-तत्पर ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

पर स्वधर्म रत हूं कैसा । सकाम रत रहता वैसा ।
पार्थ उसका उद्देश्य ऐसा । एक ही है ॥ ६४ ॥

प्राणि मात्र यहां सकल । हमारे आधीन केवल ।
जिससे रहे वे सरल । स्वधर्ममें रत ॥ ६५ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

हम हैं पूर्ण काम होकर । आत्मस्थितिमें ही रह कर ।
करेगी कैसी प्रजा संसार । पार सकल ॥ ६६ ॥

हमारा ही आचरण देखना । उसीका अनुकरण करना ।
है यह प्रजा-जनका अपना । नियम जैसा ॥ ६७ ॥

इसीलिये जो हैं समर्थ । तथा सर्वज्ञतासे युक्त ।
कर्म त्याग नहीं उचित । उसको कभी ॥ ६८ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

अर्जुन फलकी आशासे । आचरता कामुक जैसे ।
कर्म रत रहता वैसे । निरिच्छ ही ॥ ६९ ॥

बड़ोंको सुन पार्थ । सकल लोक-संस्था ।
रक्षणीय है सर्वथा । इसीलिये ॥ १७० ॥

न रहूं मैं कर्म-लीन तजके यदि आलस ।
चलेंगे लोगभी ऐसे सर्वथा इस मार्गसे ॥ २३ ॥

छोंडूंगा यदि मैं कर्म होगा विनाश लोकका ।
बनूंगा संकर द्वारा प्रजाका नाश-कारण ॥ २४ ॥

फंसके करता अज्ञ ज्ञानीको मुक्त भावसे ।
करना कर्म वैसे ही लोक-संग्रह हेतुसे ॥ २५ ॥

शास्त्रोचित ही बरतना । विश्वको सुपथ बताना ।
अलौकिक नहीं बनना । लोगोंमें कभी ॥ ७१ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

आयाससे जो स्तन्य पीता । वह पक्वान्न कैसे खाता ।
शिशुको नहीं दिया जाता । कभी मिष्टान्न ॥ ७२ ॥

वैसे कर्ममें अयोग्यता । उससे कभी नैष्कर्म्यता ।
विनोदमें भी न कहता । अर्जुन कभी मैं ॥ ७३ ॥

लोक संग्रहार्थ कुशलता पूर्वक कर्म—

उन्हे सत्कर्ममें लगाता । उनकी प्रशंसा करता ।
आचरण कर दिखाता । नैष्कर्म्यका ॥ ७४ ॥

सदा जो लोक संग्रहार्थ । रहता है कर्ममें रत ।
वह कर्म बंध रहित । रहता है ॥ ७५ ॥

बहुरूपियोंके राजारानीको जैसे । न चिपकता स्त्री पुरुष-भाव वैसे ।
लोक-संग्रहार्थ कर्म-रत होनेसे । नहीं है कर्म बंधन ॥ ७६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ २७॥

अजी दूसरेका है भार । यदि अपने सिर पर ।
लिया तो उसका असर । न होगा क्या ॥ ७७ ॥

वैसे हैं शुभाशुभ कर्म । उपजाता प्रकृति-धर्म ।
उसको मूर्ख-मति-भ्रम । कहता "मैंने किया" ॥ ७८ ॥

अहंकार पर आरुढ । ऐसा जो संकुचित मूढ ।
उसको परमार्थ गूढ । कहना नहीं ॥ ७९ ॥

अबोध कर्म-निष्ठोंका बुध्दि भेद करो नहीं ।
जगावो कर्ममें चाव करके साम्य भावसे ॥ २६ ॥

होते हैं कर्म जो सारे प्रकृतिके स्वभावसे ।
अहंकारी बना मूढ मानता करता स्वयं ॥ २७ ॥

यह है जो प्रस्तुत । कहा तुझसे हित ।
पार्थ दे कर चित्त । सुन सब ॥ १८० ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

अजी है तत्वज्ञानियोंका चित्त । होता प्रकृतिसे अप्रभावित ।
इस प्रकृतिमेंसे कर्म जात । होते उत्पन्न ॥ ८१ ॥

देहभिमान वे तजकर । गुण कर्मको ही पारकर ।
रहते साक्षी रूप होकर । शरीरमें ही ॥ ८२ ॥

अजी शरीरधारी होकर भी । कर्म-बंधसे मुक्त होते तभी ।
जैसे लिप्त न होता सूर्य कभी । विश्वके कर्मसे ॥ ८३ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदोमन्दान्कृत्स्नविन्नविचालयेत् ॥२९॥

गुण संग्राममें जो घिरकर । तथा प्रकृतिके वश होकर ।
रत होता कार्यमें निरंतर । वही कर्म बद्ध ॥ ८४ ॥

इंद्रियां सदा गुणाधार । करती अपना व्यापार ।
पर कर्म अपने पर । लेते वे बद्ध ॥ ८५ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्ताध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

गुण ये और ये कर्म इससे भिन्न मान मैं ।
रहे असंग तत्वज्ञ गुणमें गुण आचर ॥ २८ ॥

डूबे जो गुण कर्मोंमें प्रकृति गुणसे ठगे ।
ऐसे अल्पज्ञ मूढोंको ज्ञानी भ्रांत करे नहीं ॥ २९ ॥

मुझे अध्यात्म बुद्धिसे कर सर्व समर्पण ।
फलाशा ममता सारी छोडके जूझ तू यहां ॥ ३० ॥

उठो, स्वधर्माचरणार्थ कर्म करो—

उचित कर्म सभी कर । उन्हे मुझे अर्पण कर ।
चित्त वृत्तिको लीन कर । आत्मामें ही ॥ ८६ ॥

कर्म कर्तृत्वका भान । औ' उसका अभिमान ।
न कर कभी अर्जुन । मनमें भी ॥ ८७ ॥

शरीरासक्तिको छोड़ना । कामना सबको त्यजना ।
समयपे फिर भोगना । प्राप्त भोग ॥ ८८ ॥

कोदंड लेकर अब करमें । चढ़ कर बैठा अब रथमें ।
अलिंगन कर वीर वृत्तिमें । शांत भावसे ॥ ८९ ॥

विश्वमें कीर्तिको फैलावो । स्वधर्मका मान बढ़ावो ।
पापके भारसे छुडावो । पृथ्वीको अब ॥ १९० ॥

अर्जुन ! संदेहको छोड दो । संग्राममें ही अब चित्त दो ।
अन्य कछु बोलना त्यज दो । अबसे फिर ॥ ९१ ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

आत्म रत कर्मसे विकास, प्रकृति तंत्र कर्मसे विनाश—

यह है मेरा मत यथार्थ । अत्यादरसे आचरणार्थ ।
निष्ठा पूर्वक अनुष्ठानार्थ । कहा अर्जुन ॥ ९२ ॥

सकल कर्ममें हो रत । ऐसा होना कर्म रहित ।
इसीलिये यह निश्चित । है करणीय ॥ ९३ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयंतो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

मेरा शासन जो नित्य मानते हैं निर्मत्सर ।
श्रद्धासे अज्ञ निष्पाप तोडते कर्म-बंधन ॥ ३१ ॥

किंतु मत्सर-बुद्धिसे मेरा शासन तोड़ते ।
वे ज्ञान-शून्य जो मूढ पाते हैं नाश निश्चित ॥ ३२ ॥

या प्रकृतिमें रत हो कर । इंद्रियोंको दुलारकर ।
मेरे मतको ठुकरा कर । बरतते हैं ॥ ९४ ॥

तथा इसको तुच्छ मानते । इसकी जो अवज्ञा करते ।
इसे बेकार बात मानते । वाचालतासे ॥ ९५ ॥

हैं ये मोह मदिरासे भ्रमित । विषय विषमें रत सतत ।
अज्ञान कीचमें पतित नित । निःसंशय ॥ ९६ ॥

शवके हाथमें दिया रत्न । जैसे व्यर्थ जाता है अर्जुन ।
जन्मांधको उदय रत दिन । अनुपयुक्त ॥ ९७ ॥

या है चंद्रका उदय जैसा । कागको अनुपयुक्त वैसा ।
मूर्खको है विवेक भी वैसा । अरुचिकर ॥ ९८ ॥

वैसे ही जान तू पार्थ । विमुख जो परमार्थ ।
उनसे बात सर्वथा । न की जाती ॥ ९९ ॥

तभी वे कछु न मानते । निंदा भी करने लगते ।
पतंग कैसे क्या सहते । कभी प्रकाश ? ॥ २०० ॥

दीपसे पतंगका आलिंगन । उनका वहां निश्चित मरण ।
ऐसा होता है विषयाचरण । आत्मघातसा ॥ १ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

शरीर नाशवान है—

तभी इंद्रियोंका दुलार । न करें कभी जानकर ।
मन रंजनके खातिर । त्याज्य मान ॥ २ ॥

अजी सापसे क्या खेल होगा । या बाघका साथ क्या निभेगा ।
या हालाहल कभी पचेगा । खाया तो ॥ ३ ॥

जैसी खेलमें आग लगती । न संभलते बढ़ती जाती ।
वैसी स्थिति इंद्रियोंकी होती । दुलारनेसे ॥ ४ ॥

ज्ञानीकी कर्म-चेष्टा भी चलती निज भावसे ।
स्वभाव वश हैं प्राणी बलात्कार निरर्थक ॥ ३३ ॥

वैसे तो सुन अर्जुन । शरीर है पराधान।
नाना भोग क्यों निर्माण । करें सब ॥ ५ ॥

आयास करके बहुत । सकल ही समृद्ध जात।
इस देहको अनवरत । पाले क्यों ? ॥ ६ ॥

सर्वस्व तज कर । संपत्तिको पाकर।
स्वधर्म छोड़कर । पालना देह ॥ ७ ॥

फिर है यह पंच मेलका । अनुसरेगा पंच तत्वका।
तब अपने किये श्रमका । मूल्य क्या है ? ॥ ८ ॥

केवल शरीर पोषण । धोरवा मान असाधारण।
इस पर अतःकरण । न देना कभी ॥ ९ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इसलिये स्वधर्माचरण ही करना—

वैसे इंद्रियोंके हितार्थ । विषय दिये नियमित।
होगा संतोषित चित्त । यह है सच ॥ २१० ॥

किंतु जैसे सभ्य चोरका साथ । केवल समाजमें है विश्वस्थ।
निश्चित ही है करता जो घात । एकांत आते ही ॥ ११ ॥

अजी विषकी है मधुरता । उपजाती चितमें ममता।
परिणाममें भयंकरता । प्राणहारी ॥ १२ ॥

जैसे कंटियामें लगाया आमिष । भुलाता है मीनको दिखाके आस।
वैसे भुलाते हैं विषय सुखाश । इंद्रियोंको ॥ १३ ॥

आमिषमें कांटिया होती । प्राणको वह हर लेती।
आमिषमें वह छिपी होती । न जानता मीन ॥ १४ ॥

वैसे यहां अभिलाषामें होगा । यदि विषयकी आशा करेगा।
अभिलाषासे है बलि जायेगा । क्रोधानलका ॥ १५ ॥

इंद्रियोंके स्व-अर्थोमें रहते राग द्वेष हैं ।
उन्हे वश नहीं होना देहीके पथ-शत्रु वे ॥ ३४ ॥

शिकारी जैसे घेरकर। देखता है सु-अवसर।
मारनेमें रहे तत्पर। मृगको सदा॥ १६॥
यहां ऐसा ही होता है। संग उचित नहीं है।
पार्थ काम औ' क्रोध है। अति घातुक॥ १७॥
उसका आश्रय नहीं करना। मनमें स्मरण भी न धरना।
लगन नष्ट नहीं होने देना। स्वधर्मकी॥ १८॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

स्वधर्ममें मृत्यु भी श्रेष्ठ है—

अजी! स्वधर्म जो है अर्जुन। यदि आचरणमें कठिन।
किंतु उसीका है अनुष्ठान। शुभदायक॥ १९॥
यदि पराया आचार। देखनेमें है सुंदर।
किंतु करना स्वीकार। अपना ही॥ २२०॥
शूद्रके घरके मिष्टान्न। खाये कैसे वह ब्राह्मण।
हुआ भी है अति उद्विग्न। भूखसे॥ २१॥
करना कैसे अनुचित। अनुचित इच्छाको प्राप्त।
इच्छा हुई तो अनुचित। वह साधना क्या?॥ २२॥
दूसरोंका घर सुंदर। देखके अपना कुटीर।
करें गिरानेका व्यापार। उचित क्या?॥ २३॥
अजी! है अपनी सती। यदि कुरुप भी होती।
संसारमें वही गति। वैसे ही यह॥ २४॥
चाहे जैसे असुविधा-जनक। आचरणमें कष्ट-दायक।
फिर भी स्वधर्म ही है तारक। इह परमें॥ २५॥

अल्प भी अपना धर्म सु-सेव्य पर-धर्मसे।
स्वधर्ममें भला मृत्यु पर-धर्म भयंकर॥ ३५॥

अजी! शर्करा तथा दूध । रुचिकर अति प्रसिद्ध ।
है क्रिमिरोगमें निषिद्ध । कैसे सेव्य ॥ २६ ॥

जानकर भी किया सेवन । होगा ही वह दुःख कारण ।
कुपथ्यसे होता है जीवन । अति कष्टकर ॥ २७ ॥

तभी औरोंको जो उचित । अपनेको है अनुचित ।
जो अंतिम हितके हित । अनाचरणीय ॥ २८ ॥

करनेमें स्वधर्मानुष्ठान । नष्ट होता है यदि जीवन ।
तो भी भला है वह अर्जुन । दोनों अर्थसे ॥ २९ ॥

ज्ञान पूर्वक स्वधर्माचरण नहीं करते उनका क्या—

ऐसा समस्त सुरशिरोमणि । बोले जहां श्रीशार्ंगपाणी ।
अर्जुन कहे वहां विनवणी । सुनो देव ॥ २३० ॥

यह है तेरा कहना । मैंने वह सारा सुना ।
किंतु अब कछु पूछना । मेरे मनकी ॥ ३१ ॥

अर्जुन उवाच
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

तभी देव यह है कैसा । ज्ञानियोंका स्मृति-भ्रंश-सा ।
पथ-भ्रष्ट होके सहसा । चलते हैं ॥ ३२ ॥

सर्वज्ञ ही हैं वे होते । औ' उपाय भी जानते ।
अधर्ममें व्यभिचरते । वह किस गुणसे ॥ ३३ ॥

अजी! बीज तथा है भूसा । अंध न जाने चुनना कैसा ।
क्षण भर चतुर भी वैसा । बहकता क्यों ? ॥ ३४ ॥

जो संसारका संग भी हैं छोडते । वे संग संसर्गसे तृप्त न होते ।
वनवास छोड़कर भी हैं आते । जन पदमें ॥ ३५ ॥

अर्जुनने कहा

मनुष्य करता पाप किसकी प्रेरणा लिये ।
जुता हुवा व्यर्थका-सा स्वेच्छाके प्रतिकूल भी ॥ ३६ ॥